THE ECONOMIC TIMES

Date: 05-05-18

Out of Africa, Some of India's Plans

Dipanjan Roy Chaudhury

Colonial movements in Africa are a matter of the past and so are ideological battles. A new and aspirational continent is emerging willing to take its place in the sun riding on political and economic stability, confident of dealing with both India and China simultaneously. Countries of the continent are looking for option besides China and India is slowly emerging as a reliable partner whose political interests are benign. In recent decades never had an Indian President made Africa his made maiden destination after being elected to office. But it was not just maiden visit – President Ram Nath Kovind returned to the same continent for this second and third trips abroad – across Eastern and Western Africa – unprecedented in recent decades.

Summits alone cannot ensure close partnership between nations. What is imperative is follow up action to deliver on the promises and announcements at the Summits. The momentum generated by the Third Indo-African Summit which witnessed presence of over 40 heads of state and governments from the continent in Delhi reminiscent of Commonwealth and NAM Summits was maintained through regular high-level visits by President (Pranab Mukherjee undertook a 4-nation trip), Vice President (Hamid Ansari), PM Narendra Modi and thereafter President Kovind. Modi will be back again in South Africa for the BRICS Summit and a visit by him to North Africa (read Egypt) is not ruled out during the course of this year.

India's support to struggles against colonial rules during 1950s and 1960s was legendary of sorts for a country which had itself gained independence after almost 200 years of colonial rule. Africa formed core of Delhi's Non-Aligned foreign policy approach as leaders in the continent drew inspiration from anti-colonial movement and anti-imperialist postures displayed by Indians. Delhi assumed a leadership role in Africa and various parts of the developing world. Yet over the decades Delhi stepped back from being a leader for countries in Africa who were in the process of building their institutions. While students from the continent visited Indian universities and some development oriented projects were introduced, China necessitated by demand to boost its economy moved fast to fill the void.

While during 2004-14, two editions of India-Africa summits were organised, high-level visits were few and far between and continent did not receive sustained attention, need for which was felt when the current regime in Delhi took charge. Africa as a bloc is critical to India's ambitions to emerge as a global power and permanent member of the UN Security Council. The fact cannot be overemphasised that the continent has adequate resources to power India's growing requirements. Africa's huge coastline both along the Indian Ocean Region and the Atlantic Ocean holds strategic significance for Delhi. On the other counter-terror partnership needs vigour in the backdrop of Islamic State shifting base to Africa. Ties between the continent and sub-continent are far too deep to be neglected.

India's benign and non-interfering approach – where projects funded by Delhi are not dictated and rather guided by local requirements, has been hailed by the international community including in Africa. International Solar Alliance has been yet another instrument to support people-centric projects in the vast and diverse continent. What is now required is region specific approach within Africa to build long-term partnerships. North Africa is clearly distinct from Western, Eastern and Southern Africa. In fact each

region is distinct from the other and has strengths to complement India's strengths. And each African nation that welcomed China during the past two decades are looking not to put all eggs in one basket and India is the alternative. Yet Delhi alone is not in a position to meet requirements to the vast continent – Indo-Japan partnership is targeted at Eastern and Southern Africa and Indo-French partnership is ideally suited for Western Africa. India now requires to walk the talk to yet again assume the leadership role.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 05-05-18

सार्वजनिक बैंकों के लिए आगे की डगर

मौजूदा समय में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को कारगर बनाने के लिए ऋण आवंटन प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देने की जरूरत है।

अजय शाह

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का मनोबल गिरा हुआ है। उन्हें सीबीआई, सीवीसी, सीएजी और सीआईसी जैसी संस्थाओं का डर सता रहा है। उनके पास इक्विटी पूंजी की कमी है। उनका कंपनियों को ऋण देने का कारोबार समस्याओं से घिरा हुआ है। इस लेख में हम कुछ बड़े सवालों के लिए रणनीति बनाने की कोशिश करेंगे। सार्वजनिक बैंकों को बकाया कर्ज के भुगतान में चूक करने वाले कर्जदारों के साथ क्या तरीका अपनाना चाहिए? उन्हें भविष्य में कंपनियों को ऋण देते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

भारत को दीर्घावधि में अपने सार्वजनिक बैंकों का निजीकरण कर देना चाहिए। हालांकि ऐसा निकट भविष्य में नहीं होने वाला है। एक विशाल निजी बैंकिंग प्रणाली होने की पूर्व-शर्त यह है कि बैंकिंग नियमन में राज्य की सक्षमता है। अगर किसी निजी बैंक का नियमन खराब है तो वह एक सार्वजनिक बैंक से भी बुरा है। नीति निर्माता इस पर अमल के लिए भारतीय रिजर्व बैंक से उम्मीदें लगाए हुए हैं लेकिन वित्त मंत्रालय एवं रिजर्व बैंक की क्षमताओं को देखते हुए इसमें पांच से दस साल तक का वक्त लग जाएगा। इस परियोजना के पूरा नहीं होने तक पीएसयू बैंकों के निजीकरण की सलाह नहीं दी जा सकती है, भले ही ऐसा करना राजनीतिक रूप से सही हो।

अपनी हालत को देखते हुए हमें तीन बिंदुओं पर ध्यान देने की जरूरत है। पहला, जहां सार्वजनिक बैंकों के पास इक्विटी पूंजी की किल्लत है वहीं उन्हें सरकार का समर्थन भी हासिल है। सार्वजनिक बैंकों के लिए कारोबार की कमी नहीं है। ग्राहक उन पर उसी तरह भरोसा करते हैं जिस तरह भारत सरकार पर विश्वास करते हैं। इन बैंकों को इस भरोसे के ही चलते ग्राहकों से मिलने वाले सस्ते जमा के तौर पर भारी सब्सिडी मिलती है। इससे सार्वजनिक बैंकों को अपनी गतिविधियों के लिए समय और स्थान दोनों मिल जाता है।

दूसरा, सार्वजनिक बैंकों की संगठनात्मक क्षमताएं काफी अलग तरह की हैं। भारतीय स्टेट बैंक का संचालन काफी बेहतर तरीके से होता है और वह निजी क्षेत्र के अधिकांश बैंकों से भी बेहतर है। दूसरी तरफ बहुत खराब ढंग से संचालित हो रहे सार्वजनिक बैंक भी हैं। बाजार पूंजीकरण अनुपात वाली कुल परिसंपत्ति एसबीआई के लिए जहां 12 गुना है तो कॉर्पोरेशन बैंक या यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया के लिए यह 71 गुना है। हमें कोई भी समाधान सुझाते समय इस विविधता को ध्यान में रखने की जरूरत है। तीसरा, सार्वजनिक बैंकों की तरफ से कंपनियों को दिए गए ऋण के बकाया पर काफी ध्यान दिया जा रहा है लेकिन ये आंकड़े पुराने कर्ज के भुगतान और नए कर्ज के आवंटन के चक्र से निर्धारित होते हैं। नए कर्जों के आवंटन को लेकर फैसले हमेशा किए जाते हैं। सार्वजनिक बैंकों का कॉर्पोरेट ऋण वितरण इस कदर बाधित नहीं होना चाहिए कि नए ऋण बांटे ही न जाएं। एक-चौथाई सूचीबद्ध गैर-वित्तीय फर्मों का ब्याज कवर अनुपात 1.5 होने से उनकी हालत खस्ता है लेकिन शीर्ष की एक-चौथाई फर्मों का ब्याज कवर अनुपात 13 होने से उनकी बढिय़ा हालत है। सार्वजनिक बैंकों को बेहतर हालत में नजर आ रही कंपनियों को कर्ज देने में खुशी होनी चाहिए।

हमें तत्काल कदम की जरूरत वाले बड़े सवालों पर गौर करना चाहिए। भुगतान में चूक करने वाले कर्जदारों के साथ क्या किया जाए? इसी तरह भुगतान में चूक न करने वाले कर्जदारों के साथ क्या बर्ताव होना चाहिए? कर्ज बांटने का फैसला किस तरह किया जाए? चूककर्ता कर्जदारों के मामले में लेनदार बैंक को ऋणशोधन एवं दिवालिया संहिता (आईबीसी) के तहत गठित होने वाली ऋणदाताओं की समिति में सोचसमझ कर कदम उठाने की जरूरत है। मसलन, हाल ही में एक सार्वजनिक बैंक के प्रतिनिधि ने ऋणदाताओं की समिति में रखे गए एक कर्ज समाधान योजना के पक्ष में राय दी थी लेकिन बाद में वह बैंक उस फैसले से पीछे हट गया। इसके चलते दिवालिया प्रक्रिया की समयसीमा का पालन करना मुश्किल हो गया।

सरकारी एजेंसियों सीबीआई, सीवीसी और सीएजी की कार्य प्रक्रियाओं में भी ऐसे बदलाव करने जरूरी हैं कि एक सार्वजनिक बैंक को अधिक कारगर बनाया जा सके। निम्न क्षमता वाले सार्वजनिक बैंक के लिए रास्ता यह है कि वह अपने बकाया कर्ज को खुली नीलामी के जरिये बेच सके। इसके लिए परिसंपत्ति पुनर्गठन कंपनियों (एआरसी) के विशेष दर्जे को खत्म करना जरूरी होगा ताकि कोई भी वित्तीय निवेशक इन परिसंपत्तियों की खरीद के लिए समान स्तर पर बोली लगा सके। निजी इक्विटी फंड और ऋणग्रस्त परिसंपत्ति फंडों का एक बड़ा पूल होना चाहिए जो इन बॉन्ड या बकाया कर्जों की खरीद में प्रतिस्पद्र्धा कर सकें। इससे सार्वजनिक बैंकों की मूल्य वसूली बेहतर हो सकेगी। अब सवाल उठता है कि उन कंपनियों के संदर्भ में बैंकों की क्या नीति हो जिन्होंने कर्ज भुगतान में कोई चूक नहीं की हो? इस मामले में बैंक बेहतर कर्जों को बनाए रखे और खराब नजर आ रहे कर्जों को बेच दे। ऐसा विवेकाधिकार की कम जरूरत वाली निर्णय प्रणाली के जरिये किया जाना चाहिए। इसके लिए कंपनियों के खाते संबंधी आंकड़ों के आधार पर नियम बना देने चाहिए जिससे कर्ज लेने वालों को सशक्त एवं अशक्त श्रेणी में बांटा जा सके। इसके पीछे का मूल विचार काफी सरल है। कमजोर फर्म निवेश के लिए तगड़ा कर्ज उठाते हैं जबकि उनकी मुनाफा कमाने की क्षमता कम होती है।

बेहतर कार्य कर रहे सार्वजनिक बैंकों में लेखा संबंधी आंकड़ों के आधार पर विस्तृत एवं वस्तुनिष्ठ ऋण विश्लेषण की लंबी परंपरा रही है। रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय बढिय़ा प्रक्रियागत डिजाइन को अधिक वैधता देकर इस प्रक्रिया को अपना समर्थन दे सकते हैं। हालांकि वित्तीय सेवा विभाग और रिजर्व बैंक के लिए बैंकों के बीच उनकी संगठनात्मक क्षमताओं के आधार पर विभेद कर पाना काफी मुश्किल होगा। आखिरकार, सार्वजनिक बैंक बढ़ती हुई मात्रा में ऋण आवंटन किस तरह करें? इसके लिए बैंकों को ऋण आवंटन में विवेकाधिकार का इस्तेमाल कम करने की प्रणाली

विकसित करनी चाहिए जिसमें ऋण देने के पहले कंपनियों के वित्तीय खातों की सही तरह पड़ताल की जाए। जैसे ही कर्ज लेने वाली कंपनी एक खास स्तर से नीचे गिरे, सार्वजनिक बैंक को वह कर्ज बेच देना चाहिए।

सार्वजनिक बैंक अभी कुछ समय तक बने रहेंगे लिहाजा हमें उन्हें बेहतर कामकाजी बैंक बनाना होगा। इन बैंकों के लिए निर्णय निर्माण का एक अधिक फॉर्मूलाबद्ध तरीका अपनाना बेहतर होगा और अच्छा प्रदर्शन कर रहे बैंकों की संगठनात्मक क्षमता का यह अहम हिस्सा रहा है। खराब संगठनात्मक क्षमता वाले सार्वजनिक बैंकों को ऊंचे जोखिम वाली कंपनियों को कर्ज देने के कारोबार से बाहर निकल जाना चाहिए। बढिया प्रदर्शन करने वाले सार्वजनिक बैंकों के लिए कमजोर कर्जदारों को कर्ज देना और दिवालिया प्रक्रिया के जरिये उसे निकालने की कोशिश करना व्यवहार्य है। हमें कमजोर भुगतान क्षमता रखने वाली कंपनियों की पहचान के लिए सुस्पष्ट नियम बनाने चाहिए। हमें एआरसी का विशेष दर्जा खत्म कर देना चाहिए और कमजोर कंपनियों के कर्ज या बॉन्ड रखने वाले निजी फंडों का एक विशाल एकीकृत पूल बनाना चाहिए और दिवालिया प्रक्रिया में दबदबा कायम करने की कोशिश करनी चाहिए।

दैनिक भास्कर

Date: 05-05-18

जलवायु संकट के बीच आंध्र से आशा की किरण

रासायनिक खेती की जगह प्राकृतिक खेती अपनाने की मुहिम से फसलों में 35 से 69 फीसदी वृद्धि।

देविंदर शर्मा, (कृषि विशेषज्ञ व पर्यावरणविद)

सारे सबूत सामने हैं। मिट्टी की उर्वरता घटने, भू-जल के जरूरत से ज्यादा दोहन से जलस्रोत सूख रहे हैं, कीटनाशकों सहित कई तरह के रसायन पर्यावरण में अत्यधिक फैल गए हैं और इनके कारण पूरी खाद्य शृंखला प्रदूषित हो गई है। मिट्टी रुग्ण होने और भूक्षरण के कारण मरुस्थल बढ़ रहा है। फसलों की उत्पादकता स्थिर हो गई है, जिससे उसी फसल को लेने के लिए अधिक रसायन डाले जा रहे हैं। भारतीय कृषि शोध परिषद के एक पूर्व महानिदेशक ने बताया, '1980 के दशक में किसान 1 किलो उर्वरक इस्तेमाल करके 50 किलो गेहूं पैदा करता था। अब किसान उतनी ही उर्वरक में मात्र 8 किलो गेहूं पैदा करता है।' ऐसे में पर्यावरण संकट संबंधी एक चौंकाने वाला अध्ययन उपेक्षित ही रह गया। ससेक्स यूनिवर्सिटी की रिपोर्ट के मुताबिक जर्मनी के एक संरक्षित वन में उड़ने वाले कीटों की तीन-चौथाई आबादी पिछले 25 वर्षों में गायब हो गई है। वहीं मधुमक्खियों की आबादी में खतरनाक गिरावट पर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चिंता व्यक्त हुई है। कीटों की 75 फीसदी आबादी लुप्त हो जाना और वह भी संरक्षित क्षेत्र में वह 'पर्यावरण महाविनाश' की चेतावनी है। यह एक ऐसे समय हो रहा है जब न सिर्फ भारत के महाराष्ट्र, पंजाब, गुजरात और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में बल्कि अमेरिका में भी जीएम कॉटन के प्रति खतरनाक बॉलवर्म कीट प्रतिरोधी हो गया है। कैलिफोर्निया से टैक्सस तक इन कीटों ने कॉटन पर ताजे हमले किए हैं।

हरित क्रांति की हवा पहले ही निकल गई है और विनाशक नतीजों का सिलसिला किसानों की आत्महत्या के रूप में सामने आ रहा है। जहां लागत बढ़ रही है पर कीमतें यदि कम नहीं भी हुई हैं तो स्थिर तो हैं ही और किसान की आय तेजी से घट रही है। अमेरिका में पिछले चार वर्षों में सैकड़ों डेयरी फार्म बंद पड़ गए हैं। यूरोप में यदि सब्सिडी हटा दी जाए तो कई खेत मुनाफा देने लायक नहीं रहेंगे। फ्रांस में किसानों के 'म्युचुअल इंशोरेंस एसोसिएशन (एमएसए)' ने 2016 में कहा था, 'अधिसंख्य किसान प्रतिमाह 350 यूरो से कम कमाते हैं।' भारत में सरकार के ही आर्थिक सर्वेक्षण 2016 के मुताबिक 17 राज्यों में (यानी करीब आधा देश) किसान परिवारों की सालाना औसत आय मात्र 20 हजार रुपए रह गई है। नीति आयोग का एक अन्य अध्ययन कहता है कि 2011 से 2016 के गत पांच वर्ष की अवधि में खेती की आय स्थिर रही है। सारे प्रशंसनीय लक्ष्यों के बावजूद दुनिया लगभग संकट के बिंदु पर पहुंच गई है जिसकी इंटरनेशल पेनल ऑन क्लाइमेंट चेंज ने कुछ साल पहले चेतावनी दी थी। यहां तक कि इंटरनेशनल असेसमेंट फॉर एग्रीकल्चरल नॉलेज, साइंस एंड टेक्नोलॉजी फॉर डेवलपमेंट (आईएएएसटीडी) ने तत्काल टिकाऊ खेती की ओर जाने की जरूरत बताई है, जो बहुत समय से अधरझूल में है। हर विनाश एक अवसर होता है लेकिन, यह अपरिहार्य रूप से बिज़नेस के अवसर के रूप में सामने आता है।

पर्यावरण पर आलाप के समान समाधान भी वही बने हुए हैं : औद्योगिक कृषि के लिए अधिक दबाव। दुनिया में 2008 जैसा खाद्य संकट फिर पैदा न हो -जब 37 देशों में खाद्यान्न को लेकर दंगे हुए थे- यह सुनिश्चित करने के लिए बता दूं कि अंतरराष्ट्रीय ने समुदाय एक रोडमैप प्रस्तुत किया। यह कोई एक रोडमैप नहीं बल्कि निजी क्षेत्र द्वारा संचालित कई रूपरेखाएं हैं। 2009 के विश्व आर्थिक मंच पर 17 निजी कंपनियों के बिज़नेस लीडर्स ने एक नया मंच जारी करने घोषणा की थी। नाम था न्यू विज़न फॉर एग्रीकल्चर। इसमें हर दशक में खाद्यान्न में 20 फीसदी उत्पादन बढ़ाने, प्रतिटन ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन 20 फीसदी गिराने और ग्रामीण गरीबी को 20 फीसदी घटाने का महत्वाकांक्षी लक्ष्य सामने रखा गया है। इन 17 कृषि-उद्योग की दिग्गज कंपनियों में आर्टर डेनियर्स मिडलैंड, बीएएसएफ, बंज लिमिटेड, कारगिल, कोका-कोला, ड्यू पॉइंट, यूनिलिवर, वाल-मार्ट आदि शामिल हैं। दूसरे शब्दों में दुनिया जितनी बदलने की कोशिश करती है, उतनी वह वही बनी रहती है।

इस कठिन समय में यह देखकर अच्छा लगा कि चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने दुनिया के सामने खड़े पर्यावरण संकट को पहचाना है। अक्टूबर में कम्युनिस्ट पार्टी की नेशनल कांग्रेस को संबोधित करते हुए उन्होंने माना था, 'प्रकृति को हम जो भी नुकसान पहुंचाएंगे, वह लौटकर हमें ही संकट में डालेगा...यह ऐसी वास्तविकता है, जिसका हमें सामना करना है।' उसके बाद उन्होंने हरित, कम कार्बन वाले और चक्राकार विकास की दिशा में कानूनी व नीतिगत ढांचा तय करने के प्रयास तेज करने के ब्योरे दिए। इसका उद्देश्य वेटलैंड का संरक्षण व बहाली और पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाली सारी गतिविधियों को रोकना और दंडित करना है। उन्होंने 21वीं सदी में 'इकोलॉजिकल सिविलाइजेशन' की शुरुआत का आह्वान किया। हमारे देश में पर्यावरण को जरा भी नुकसान पहुंचाए बगैर किसानों के चेहरे पर मुस्कान लौटाने वाली टिकाऊ खेती की पटकथा लिखी जा रही है। आंध्र प्रदेश ने प्राकृतिक खेती को बढ़ावा देने का विशाल कार्यक्रम शुरू किया है। 'रायथु साधिकारा सम्स्था' नामक इस कार्यक्रम में 2017-2022 की अवधि में सभी 13 जिलों के 5 लाख किसानों को प्राकृतिक खेती पर लाने का उद्देश्य है। मैं हाल ही में कुरनूल जिले के कई गांवों में उन किसानों से मिला हूं, जो रासायनिक खेती से प्राकृतिक खेती पर आ गए हैं।

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सारी फसलों में उपज बढ़ी है। मंुगफली में उत्पादन 35 फीसदी, कॉटन में 11 फीसदी, मिर्च में 34 फीसदी, बैंगन में 69 फीसदी और धान में 10 से 12 फीसदी वृद्धि हुई है। अब तक 1.63 लाख

किसान प्राकृतिक खेती की ओर मुड़े हैं। यदि रासायनिक खाद व कीटनाशकों का इस्तेमाल किए बिना उत्पादन बढ़ाया जा सकता हो, यदि किसानों की शुद्ध आय बढ़ती हो और यदि प्राकृतिक खेती से जलवायु परिवर्तन का सामना करने वाली खेती की शुरुआत होती हो तो कोई कारण नहीं कि अन्य राज्य आंध्र प्रदेश द्वारा किए गए नई जमीन तोड़ने वाले प्रयासों का अनुसरण न करें।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 04-05-18

खुशनुमा तस्वीर के मायने

रहीस सिंह

माना जा रहा है कि 21वीं सदी एशिया की है, और भारत तथा चीन एशिया की दो बड़ी ताकतें हैं। सो, इन दोनों के बीच होने वाली सहमतियां और असहमतियां ग्लोबल नैरेटिव तैयार कर सकती हैं। 27-28 अप्रैल को वुहान में मोदी-जिनपिंग अनौपचारिक शिखर बैठक को सामान्यतया इसी नजरिए से देखा जा रहा है। लेकिन कई प्रश्न हैं? पहला, शिखर बैठक की पटकथा किसने लिखी थी? इस ''वन-ऑन-वन' या ''हार्ट-टू-हार्ट' कूटनीति के कोई स्थायी मायने और उपलब्धियां क्या अभी सामने आ पाई हैं? हार्ट-टू-हार्ट जैसी शब्दावली तो जट्टी उमरा (लाहौर) में मोदी-शरीफ मुलाकात के लिए भी प्रयुक्त हुई थी। वह भी अनौपचारिक मीटिंग थी। मोदी-जिनपिंग मीटिंग पर विदेश मंत्रालय की तरफ से कहा गया है कि दोनों नेताओं ने आतंकवाद को साझा खतरा बताया।

प्रधानमंत्री मोदी ने जिनपिंग के साथ सैर करते हुए अपनी तस्वीर सोशल मीडिया पर पोस्ट करते हुए लिखा है कि हमने आर्थिक सहयोग को गति देने के तरीकों पर बात की। संशय नहीं कि ''वन-ऑन-वन' अनौपचारिक शिखर बैठक में दोनों नेताओं के पास पर्याप्त समय एवं स्पेस होता है कि ''कोर इश्यूज' पर विस्तृत व निर्णायक बात कर सकें। लेकिन मेरी समझ से कूटनीतिक रणनीति को परिणाम तक ले जाना एकदिनी मैच की तरह नहीं होता। भारत और चीन के बीच ''कोर इश्यूज' कौन से हैं, जिन पर बात होनी चाहिए थी। जानना जरूरी है। भारत के लिए जो मुद्दे चुनौती बने हुए हैं, वे हैं-मैकमोहन रेखा पर चीन का नजरिया, सीपेक पर चीनी स्टैंड, दक्षिण एशियाई देशों में चीन की घुसपैठ और ग्वादर व हम्बनटोटा जैसे बंदरगाहों के सैन्यीकरण पर भारत की चिंताएं।

चीन द्वारा पाकिस्तान को लगातार सैनिक आर्थिक मदद मुहैया कराना। पाकिस्तानी आतंकवादियों के प्रति उदार रवैया। एनएसजी और यूएन सिक्योरिटी काउंसिल में स्थायी सीट के लिए भारत की राह में रोड़े उत्पन्न करना। प्रमुख बात यह है कि वुहान में मोदी-जिनपिंग मीटिंग अनौपचारिक थी, जिसमें कोई संयुक्त बयान नहीं दिया जाना था यानी जो भी चर्चा हुई वह समझौते की शक्ल में नहीं आएगी। फिर कैसे मान लिया गया कि जिनपिंग ने भारत की तरफ से रखे गए कितने प्रस्तावों को माना है, कितनों को नहीं और इसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे? दूसरी बात प्रधानमंत्री की वुहान यात्रा आकस्मिक थी यानी न लक्ष्य तय थे और न ही कोई एजेंडा (जैसा चाइना डेली ने लिखा है)। बिना एजेंडा और लक्ष्य के सफलता-असफलता जैसे विषय ही गौण हो जाते हैं। चाइना डेली के अनुसार दोनों नेताओं को केवल कुछ

महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करना था, विशेष रूप से ग्लोबल गवन्रेस और साझा अंतरराष्ट्रीय चुनौतियों पर जिनमें सुरक्षा चिंताएं, आतंकवाद, संरक्षणवाद, मुक्त व्यापार व वैश्वीकरण जैसे विषय शामिल थे। संरक्षणवाद भारत के लिए न तात्कालिक विषय है और न ही इतना गंभीर कि उसके लिए प्रधानमंत्री को तत्काल चीन जाना पड़े। हां, यह चीन के लिए गंभीर मुद्दा जरूर है क्योंकि चीन संयुक्त राज्य अमेरिका में ट्रंप प्रशासन के साथ व्यापार पर बढ़ती लड़ाई में उलझ चुका है।

उसकी मंशा है कि भारत संरक्षणवाद और वैश्वीकरण के मुद्दे के साथ चीन के साथ खड़ा हो।चीन के अखबार का मानना है कि रोड एंड बेल्ट इनीशिएटिव (बीआरआई), जिसमें चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारा (सीपेक) भी शामिल है, तथा डोकलाम जैसे मुद्दे वुहान शिखर बैठक में शामिल थे। लेकिन फोकस डोनाल्ड ट्रंप की संरक्षणवादी नीति और विश्व व्यवस्था में पिछले 100 वर्षो में आए अभूतपूर्व परिवर्तनों पर कहीं अधिक था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि चीन की महत्वाकांक्षाएं क्या हैं, और वह उनमें भारत को शामिल करने की रणनीति पर काम कर रहा है। चीनी मीडिया ने लिखा है कि अमेरिका और जापान ने हिन्द-प्रशांत रणनीति पर पिछले वर्ष काम शुरू किया था, जिसका उद्देश्य चीन को घेरना था। चीन का कहना है कि पश्चिम, चीन और भारत का एक दूसरे से मुकाबला कराना चाहता है, जबकि भारत और चीन को एक दूसरे के साथ सौदेबाजी और हेरफेर करने की जरूरत नहीं है। इसमें कोई संशय नहीं है कि भारत को चीन के साथ संघर्ष नहीं करना चाहिए। थोड़ी देर के लिए राष्ट्रप्रेम के अंधानुकरण को छोड़कर हम यथार्थ की बात करें तो सच यह है कि चीन प्रत्येक क्षेत्र में भारत से आगे है, चाहे आर्थिक क्षेत्र हो या सैन्य ताकत। यही नहीं दुनिया में उसकी कूटनीतिक हैसियत काफी बढ़ चुकी है। ऐसे में चीन से उम्मीद करना नासमझी ही होगी कि वह भारत से वार्ता के लिए आवेदन-निवेदन करेगा।

फिर तो पहल करने की जरूरत भारत की तरफ से होनी चाहिए थी। तो क्या इस मीटिंग की पटकथा बीजिंग ने लिखी थी? प्राय: भारतीय मीडिया एवं बुद्धिवादियों का एक वर्ग तर्क देता है कि भारत अपने बाजार के बूते चीन को झुका सकता है। वे भूल जाते हैं कि भारत-चीन द्विपक्षीय व्यापार (84 बिलियन डॉलर) को अमेरिका-चीन द्विपक्षीय व्यापार (600 बिलियन डॉलर) बौना बना देता है। इसलिए चीनी कंपनियों के लिए भारत का बाजार जरूरी है, लेकिन इसके लिए वह नतमस्तक हो जाएगा, ऐसा नहीं है। यही नहीं, चीन बेल्ट एंड रोड इनीशिएटिव, सीपेक, ग्वादर, हम्बनटोटा और मारओ मामले में भी पीछे नहीं हटेगा। ऐसे में सरकार को स्पष्ट करना चाहिए कि मोदी और शी ने सीपेक पर क्या बात की और किस निष्कर्ष पर पहुंचे।

हमारा आकलन कहता है कि चीन सीपेक मामले में अपने स्टैंड पर कायम रहेगा। क्या चीन ने हम्बनटोटा में सैन्यीकरण पर भारतीय चिंताओं को स्वीकार किया है? मालदीव पर भारत विरोधी नजरिए पर चीन का नजरिया क्या रहा? बेल्ट एंड रोड इनीशिएटिव पर भारत ने चीन को क्या आश्वासन दिया? बीआरआई चीन का अब तक सबसे महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट है, इसलिए भारत इस पर अपने स्टैंड पर कायम रहेगा तो चीन से मित्रता संभव ही नहीं। ध्यान देने की बात है कि 15 मई, 2017 को बीजिंग बीआरआई पर हुए समिट में भारत ने शामिल होने से इनकार किया था, और इसका चरित्र औपनिवेशिक बताया था। इसके लगभग एक पखवाड़े बाद ही डोकलाम की घटना सामने आ गई थी। चीन ने अजहर मसूद और पाकिस्तान को दी जाने वाली सपोर्ट पर किस तरह का आश्वासन दिया है? बदले में दलाई लामा व तिब्बत पर भारत ने क्या दिया? अफगानिस्तान का मसला तो बाद में आता है। फिलहाल, कूटनीतिक इतिहास की किताबों में अधिकांश बिना एजेंडे और लक्ष्य वाली अनौपचारिक वार्ताएं सिर्फ एक अध्याय के रूप में दर्ज हैं, जिनका कोई महत्व नहीं हैं। मोदी-जिनपिंग वार्ता खुशनुमा तस्वीर बनाती है, तो फिर इसे चमत्कार ही माना जाएगा।

Date: 04-05-18

यह कैसी "सौदेबाजी' !

अनिल जैन

देश के बेशकीमती संसाधनों-जल, जंगल, जमीन के साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, सेना, रेलवे, एयरलाइंस, संचार आदि सेवाएं तथा अन्य बड़े-बड़े सार्वजनिक उपक्रमों को मुनाफाखोर उद्योग घरानों के हवाले करने के बाद अब सरकार देश के लिए ऐतिहासिक महत्त्व की विश्व प्रसिद्ध धरोहरों को रखरखाव के नाम पर कॉरपोरेट घरानों के हवाले कर रही है। सवाल है कि जो ऐतिहासिक धरोहरें सरकार के लिए सफेद हाथी न होकर दुधारू गाय की तरह आमदनी का जरिया बनी हुई हैं, उन्हें सरकार क्यों निजी हाथों में सौंप कर अपने नाकारा होने का इकबालिया बयान पेश कर रही है?

संविधान ने अनुच्छेद 49 में देश के ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों के रखरखाव और संरक्षण का जिम्मा सरकार को सौंपा है। इस नीति निदेशक सिद्धांत का पालन अभी तक सभी सरकारें करती आ रही थीं, लेकिन मौजूदा सरकार ने इसे परे रखते हुए ऐतिहासिक महत्व की लगभग 100 विश्व प्रसिद्ध धरोहरों को निजी हाथों यानी कारोबारी समूहों को सौंपने का फैसला किया है। "एडॉप्ट ए हैरिटेज' योजना के तहत 17वीं सदी में पांचवें मुगल बादशाह शाहजहां के बनाए लाल किले को रखरखाव के नाम पर पांच साल के लिए "डालमिया भारत समूह' नामक उद्योग घराने को सौंप दिया है।

इसी उद्योग समूह ने आंध्र प्रदेश के कडप्पा जिले में स्थित गंडीकोटा किले को भी पांच साल के लिए सरकार से ठेके पर ले लिया है। देश-विदेश के सैलानियों से अच्छी-खासी आमदनी कराने वाले ताजमहल को संयुक्त रूप से जीएमआर समूह तथा आईटीसी समूह के सुपुर्द कर दिया है। सरकार की ओर से कहा जा रहा है कि वह इन धरोहरों को कॉरपोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व के तहत निजी हाथों में सौंप रही है।पूछा जा सकता है कि कॉरपोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व सिर्फ इन धरोहरों को लेकर ही क्यों? सरकार कॉरपोरेट घरानों में यह सामाजिक उत्तरदायित्व बोध उन असंख्य सरकारी अस्पतालों और सरकारी शिक्षण संस्थाओं के प्रति क्यों नहीं पैदा करती जिनकी बदहाली किसी से छिपी नहीं है? क्यों नहीं कोई उद्योग समूह इन अस्पतालों और शिक्षण संस्थानों के प्रति उत्तरदायित्व निभाने को आगे आता? हकीकत तो यह है कि सरकार ने जिन ऐतिहासिक धरोहरों को निजी हाथों में सौंपने की योजना बनाई है, वे लगभग सभी इतनी कमाऊ हैं कि उनकी आमदनी से न सिर्फ उनके रखरखाव का खर्च निकल जाता है, बल्कि सरकारी खजाने में भी खासी आवक होती है। लाल किले से होने वाली आमदनी को ही लें।

दो साल पहले तक लाल किले से सरकार को 6.15 करोड रु पये की आमदनी हो रही थी। इसे गोद लेने वाला डालमिया समूह बगैर शुल्क बढ़ाए ही इससे पांच साल में करीब 30.75 करोड़ रुपये अर्जित करेगा और सरकार के साथ हुए करार

के मुताबिक उसे पांच साल में इस खर्च करना है महज 25 करोड़ रुपये। जहां तक ताज महल की बात है, शाहजहां और मुमताज की मोहब्बत की यह निशानी तो देश की सर्वाधिक कमाऊ ऐतिहासिक धरोहर है। इससे सरकार को प्रति वर्ष 23 करोड़ रुपये से अधिक की आय होती है।

जुलाई, 2016 में संस्कृति मंत्री महेश शर्मा ने लोक सभा में एक सवाल के जवाब में बताया था कि 2013 से 2016 तक ताज महल से आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ **इंडिया** को कुल 75 करोड़ रुपये की आमदनी हुई थी, जबकि इन तीन सालों में इसके रखरखाव पर खर्च हुए थे महज 11 करोड़ रु पये। जाहिर है कि ताजमहल अपने रखरखाव पर खर्च के बावजूद मुनाफे वाली धरोहर है। अभी खुलासा नहीं हुआ है कि गोद लेने वाली कंपनियां इस पर **कितना** खर्च करेंगी। फिर भी तय है कि इस पर जो खर्च होगा वह होने **वाली** आमदनी के मुकाबले कम ही होगा। यह भी गोद लेने वाली कंपनियां इनको देखने के लिए आने वाले पर्यटकों से तो **शुल्क** वसूलेंगी ही, वहां के चप्पे-चप्पे पर अपना **विज्ञापन** भी करेंगी। अपनी दूसरी व्यावसायिक गतिविधियों के जरिए भी वहां मोटा मुनाफा कमाएंगी। सुविधाएं उपलब्ध कराने के नाम पर दर्शकों के लिए अभी निर्धारित शुल्क भी बढ़ा देंगी। **जाहिर** है कि देश की आबादी के एक बड़े तबके के लिए इन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहरों का दीदार करना आसान नहीं रह जाएगा। सरकार जिस तरह अपनी **अनावश्यक** दखलंदाजी और मनमाने फैसलों से देश की संवैधानिक **संस्थाओं** का मानमर्दन कर रही है, उसी तरह अब वह देश की बहुमूल्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्त्व की बहुमूल्य **धरोहरों** के साथ भी खिलवाड़ कर रही है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 04-05-18

कंपनी बंद, विवाद बरकरार

संपादकीय

पिछले कई हफ्तों से गलत कारणों से **खबरों** में छाई ब्रिटिश कंपनी कैंब्रिज एनालिटिका की कहानी का रहस्य अब और गहरा गया है। जिस समय हम यह मानकर चल रहे थे कि यह एक ऐसी कंपनी है, जिसके तरीके भले ही गलत और विवादास्पद हों, मगर दुनिया भर के **राजनीतिक** दलों में उसकी मांग बढ़ने वाली है, ठीक तभी कैंब्रिज एनालिटिका ने अपने दिवालिया होने का एलान कर दिया है। अमेरिका के पिछले राष्ट्रपति चुनाव में **डोनाल्ड** ट्रंप को जिताने का दावा करने के बाद सुर्खियों में छाई इस कंपनी का कहना है कि उसे घाटा हो रहा है, इसलिए वह अपना कारोबार समेट रही है। इसके साथ ही हमें यह भी बताया गया है कि मीडिया में उसे लेकर जो 'गलत प्रचार' हुआ, वह इस घाटे और उसके दिवालिया होने का सबसे बड़ा कारण है। वैसे कैंब्रिज एनालिटिका चुनावी रणनीति बनाने में **माहिर** मानी जाती है, कम से कम इस कंपनी का दावा यही रहा है। वह आंकड़ों को जमा करने, उनके विश्लेषण और **जरूरत** के हिसाब से राजनीतिक प्रचार की रणनीति भी बनाती है। लेकिन **पिछले** मार्च में जब इस कंपनी का यश पूरी दुनिया में फैल रहा था, तभी पता लगा कि कैंब्रिज एनालिटिका ने सोशल **मीडिया** प्लेटफॉर्म से करोड़ों लोगों का डाटा चुराकर चुनावी प्रचार में उसका इस्तेमाल किया। इस खबर ने फेसबुक कंपनी को भी कठघरे में खड़ा कर दिया कि वह अपने उपयोगकर्ताओं की निजता की सुरक्षा नहीं कर पा रही है। ब्रिटेन में तो संसदीय समिति बाकायदा उसके खिलाफ जांच भी कर रही है।

ब्रिटेन से जो खबरें आ रही हैं, वे बताती हैं कि कैंब्रिज एनालिटिका अपने को दिवालिया घोषित करने के बाद भी जांच से बच नहीं सकेगी। कंपनी और इसके निदेशकों के खिलाफ मामले चलते रहेंगे। हमें पता नहीं है कि इसका दूरगामी असर क्या होगा, लेकिन ऐसा नहीं लगता कि इस कारोबार से तौबा कर ली गई है। कैंब्रिज एनालिटिका ब्रिटेन की सलाहकार कंपनी एससीएल ग्रुप की एक सहायक कंपनी है। और अब दूसरी तरफ यह खबर भी आ रही है कि जिस समय इस सहायक कंपनी के दरवाजे बंद हो रहे हैं, यह समूह एक नई कंपनी लेकर आ रहा है, जिसका नाम होगा एमरडाटा। जाहिर है, घाटा बड़ा कारण नहीं है, बल्कि बदनामी बड़ा कारण है, जिसके चलते बोतल को बदला जा रहा है। और अगर यह समूह इस कारोबार से पूरी तरह तौबा भी कर लेता है, तो यह काम बंद हो जाएगा, ऐसा नहीं लगता। पिछले दिनों आई एक से अधिक खबरों में बताया गया था कि कैंब्रिज एनालिटिका की तरह काम करने वाली कई छोटी-बड़ी कंपनियां बाजार में आ चुकी हैं। हो सकता है कि ऐसे कुछ स्टार्ट-अप जल्द ही अपने देश में भी शुरू हो जाएं, या शायद शुरू भी हो गए हों।

आपत्ति इस बात पर नहीं है कि कोई कंपनी किसी राजनीतिक दल की सलाहकार बने और उसके लिए रणनीति तैयार करे। आपत्ति तब शुरू होती है, जब इसके लिए लोगों की निजता का हनन होता है और लोगों के डाटा को चुनावी रणनीति में इस्तेमाल किया जाता है। कैंब्रिज एनालिटिका ने जिस तरह काम किया, उसमें यही सबसे बड़ी आपत्ति थी। कैंब्रिज एनालिटिका की दुकान भले ही बंद हो गई हो, लेकिन यह काम बंद हो जाएगा, इसकी कोई उम्मीद नहीं जगती। दिक्कत यह है कि लोगों की निजता का राजनीतिक और व्यावसायिक इस्तेमाल रोकने के लिए फिलहाल हमारे पास कोई तरीका नहीं है।

Date: 04-05-18

जमीनी अधिकारों से भी दूर हैं छावनी के बाशिंदे

नरेंद्र रौतेला सामाजिक कार्यकर्ता

कभी ब्रिटिश शासन के रक्षा तंत्र और आरामगाहों के रूप में विकसित हुए देश के 62 छावनी क्षेत्रों के लोगों में एक उम्मीद जगी है। पहली बार देश के निर्वाचित छावनी प्रतिनिधियों और इन क्षेत्रों से लोकसभा में प्रतिनिधित्व करने वाले 50 से अधिक सांसदों की एक बैठक छावनी परिषदों की समस्याओं पर विचार करने के लिए रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमण की अध्यक्षता में होने जा रही है। 19वीं सदी में ही ब्रितानी हुकूमत के विशेषाधिकार प्राप्त फौज को बसाने के लिए छावनी परिषदों की स्थापना शुरू हो गई थी। यूं तो छावनी क्षेत्र ब्रिटिश सेना के अधिकारियों और सैनिकों के ऐशो-आराम के लिए बसाए गए थे। जाहिर है, वहां बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए नागरिक आबादी को बसाना भी जरूरी था। नागरिक आबादी की बसाहट को लालकुर्ती, सदर बाजार, और मालरोड जैसे नामों से जाना गया।

ब्रिटिश शासकों को छावनी क्षेत्रों के प्रबंधन की पूरी छूट थी, फिर भी इनका प्रसाशन चलाने के लिए भारतीय छावनी परिषद ऐक्ट-1924 लाया गया। इस ऐक्ट के तहत इन क्षेत्रों में निवास कर रहे लोगों के नागरिक अधिकारों और सुविधाओं को सीमित कर दिया गया। बाद में छावनी भूमि प्रबंधन ऐक्ट-1937 में छावनी परिषद में रह रहे निवासियों के भू-अधिकार भी कई पाबंदियों में जकड़ दिए गए। ये कानून अभी भी जस के तस लागू हैं। छावनी परिषद के तहत कोई

भी व्यक्ति अपनी भूमि का मालिक न होकर रक्षा विभाग का लीज होल्डर भर होता है। इस लीज का नवीनीकरण एक जटिल प्रक्रिया है, तो पुराने भवनों की मरम्मत और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया और भी जटिल है। कानूनों को धता बताने के शॉर्टकट जरूर हैं, लेकिन उनसे समस्या बढ़ती ही है। लीज समाप्त होने के बाद यहां के लोगों को नोटिस थमा दिया जाना या जुर्माने का भारी-भरकम बिल पकड़ा दिया जाना आम बात है। कई बार नामी-गिरामी पूर्व सैन्य अधिकारियों पर भी भारी जुर्माना लगा दिया जाता है। उत्तराखंड के सबसे अधिक आबादी वाले कैंट रानीखेत में पिछले साल लीज खत्म होने के नाम पर बहुत से लोगों को छावनी परिषद ने करोड़ों के बिल थमा दिए थे। लीज खत्म होने पर बेदखली की तलवार तो तकरीबन हर छावनी क्षेत्र वासी के सिर पर हमेशा लटकी रहती है।

इन इलाकों में निर्वाचित छावनी परिषदों की व्यवस्था जरूर है, पर इनमेंभी रक्षा विभाग का पलड़ा ही भारी रहता है। इन परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की भूमिका संसाधन जुटाने के नाम पर करों का बोझ बढ़ाने तक सीमित है। रक्षा मंत्रालय के भारी-भरकम बजट में भी छावनी क्षेत्रों की सुविधाओं के नाम पर मिलने वाला बजट नगण्य होता है। छावनी प्रशासन से त्रस्त शहरों में उत्तराखंड के तीन पर्वतीय नगर रानीखेत, लैंसडाउन व चकराता के उदाहरण उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र में कई कैंट एरिया हैं और पूरी तरह रक्षा मंत्रालय द्वारा शासित इन क्षेत्रों में कई बार इन कानूनों के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन हो चुके हैं।

ऐसे ही आंदोलनों का नतीजा है कि निर्वाचित छावनी सदस्यों ने अखिल भारतीय कैंट बोर्ड उपाध्यक्ष और सदस्य एसोसिएशन का गठन करके छावनी क्षेत्र की समस्याओं के निराकरण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास शुरू किए, जिनके चलते 2003 में कैंट ऐक्ट में संशोधन के प्रयास प्रारंभ हुए और 2006 में नया कैंट अधिनियम लागू किया गया। कैंट के निर्वाचित सदस्यों का मानना है कि नए ऐक्ट में नागरिक सुविधाओं की बहाली की बजाय रक्षा संपदा विभाग और सेना को पहले से भी अधिक अधिकार प्रदान कर दिए गए। मनोहर पर्रिकर ने रक्षा मंत्री रहते हुए छावनी परिषद क्षेत्रों के नागरिक अधिकारों और जन-सुविधाओं की बहाली करने हेतु सकारात्मक संकेत दिए थे, जिन्हें उनके रक्षा मंत्रालय छोड़ने के पश्चात ठंडे बस्ते में डाल दिया। अब जब फिर से ये प्रस्ताव ठंडे बस्ते से बाहर निकल रहे हैं, तो देश की 62 छावनी परिषदों की 50 लाख से भी अधिक जनसंख्या के मन में एक उम्मीद जगी है। हालांकि सारी समस्याएं एकबारगी खत्म हो जाएंगी, यह अभी नहीं कहा जा सकता, लेकिन उम्मीद यही बांधी जा रही है कि छावनी क्षेत्र के लोगों को भी वही अधिकार मिलेंगे, जो बाकी देश के लोगों को मिले हुए हैं।

THE HINDU

Date: 04-05-18

Emerging irritant

The China-Pakistan Economic Corridor is a thorn in India-Pakistan relations

Martand Jha is a Junior Research Fellow at the School of International Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi

The Belt and Road Initiative (BRI) is China's ambitious project for increasing connectivity and economic cooperation within Eurasia. Since its announcement in 2013, the BRI has been positively received by many countries covered within its ambit. However, notwithstanding the recent meeting between Prime Minister Narendra Modi and Chinese President Xi Jinping in Wuhan, China, one issue associated with the BRI will likely be considered an irritant for China: India's position on the China-Pakistan Economic Corridor (CPEC).

Last May, New Delhi sent a clear message to Beijing that it doesn't support CPEC. India registered its protest by boycotting the high-profile Belt and Road Forum organised by China. Its principal objection was that CPEC passed through Pakistan-occupied Kashmir (PoK). Earlier this month, the Ministry of External Affairs made its position clear on this issue when asked about a possibility of cooperation between India and China on the BRI. The Ministry's statement read: "Our position on OBOR/BRI is clear and there is no change. The so-called 'China-Pakistan Economic Corridor' violates India's sovereignty and territorial integrity. No country can accept a project that ignores its core concerns on sovereignty and territorial integrity."

India's position will undoubtedly have a larger impact on China-India relations. PoK is considered a contested territory by the international community. Nevertheless, for India, PoK remains an emotional and sensitive issue. It is little wonder that China's insistence on establishing the CPEC project through PoK is seen by India as a deliberate disregard of its territorial claims.

At a broader level, if China invests heavily in the region, it risks becoming party to what has been a troubling bilateral dispute between nuclear-armed rivals. If CPEC gets operationalised and fortifies the emergence of a fully functional China-Pakistan axis, this would hamper India's larger interests in the South Asian region and force a strategic rethink in South Block. The incentives for this would be even stronger if CPEC's potential success renders PoK more industrially developed, thus granting Pakistan greater legitimacy over the region. Whether India has any road map to take the conversation on PoK forward is a different debate but no nation can be expected to wilfully forsake its territorial claims. Had India not registered its protest, that would have been perceived as a weakness, and would have been a setback for India's emerging power status in the international system.

CPEC is ultimately a thorn in India-Pakistan relations. The best way forward would be for India to come up with a concrete plan on PoK. Otherwise, its protests on CPEC may well be ignored by stakeholders in the project, with little consequence.

Date: 04-05-18

Into the brave new age of irrationality

Sanjay Rajoura is a stand-up artist and an atheist

Much has been written and said about the assault on liberal arts under way in India since the new political era dawned. But the real assault is on science and rationality. And it has not been difficult to mount this attack. For long, India has as a nation proudly claimed to be a society of belief. And Indians

like to assert that faith is a 'way of life' here. Terms such as modernity, rational thinking and scientific analysis are often frowned upon, and misdiagnosed as disrespect to Indian culture.

Freshly minted spokesmodel

In recent years, we have entered a new era. I call it the Era of Irrationality. The new Chief Minister of Tripura, Biplab Kumar Deb, is the freshly minted spokesmodel of this bold, new era.

There appears to be a relay race among people in public positions, each one making an astonishingly ridiculous claim and then passing on the baton. Mr. Deb's claim that the Internet existed in the times of the Mahabharata is the latest. But there have been several other persons before that: Ganesh was the first example of plastic surgery, Darwin's theory of evolution is hokum because nobody has seen monkeys turning into humans, and that Stephen Hawking had said that Vedas have a theory superior to Einstein's E = mc2. Such statements have made us the laughing stock of the global scientific community. But more importantly, they also undermine the significant scientific achievements we have made post-Independence.

We cannot even dismiss these as random remarks by the fringe, the babas and the sadhus. These claims are often made by public officials (it's another matter that the babas and sadhus are now occupying several public offices). The assault on rationality is a consequence of a concerted strategy of political forces. As rational thinking thins, the same political forces fatten. We Indians have never really adopted the scientific temper, irrespective of our education. It's evident from our obsession with crackpot sciences such as astrology and palmistry in our daily lives. However, in the past four years, the belief in pseudo-sciences has gained a political fig leaf as have tall, unverifiable claims on science.

The cultivation of scientific temper involves asking questions and demanding empirical evidence. It has no place for blind faith. The ruling political dispensation is uncomfortable with questioning Indians. But at the same time, it also wants to come across as a dispensation that champions a 21st century modern India. Therein lies a catch-22 situation. So, they have devised a devious strategy to invest in the culture of blind belief. They already have a willing constituency. Ludicrous statements like those mentioned above — made by leaders in positions of power with alarming frequency — go on to legitimise and boost the Era of Irrationality.

An unscientific society makes the job of an incompetent ruler a lot easier. No questions are asked; not even basic ones. The ruler has to just make a claim and the believers will worship him. Rather than conforming, a truly rational community often questions disparity, exploitation, persecution on the basis of caste, religion or gender. It demands answers and accountability for such violations, which are often based on irrational whims. Hence rationality must be on top of the casualty list followed quickly by the minorities, Dalits, women, liberals. For the 'Irrationality project' to succeed, the ruler needs a willing suspension of disbelief on a mass scale.

Science v. technology

The vigour with which the government is making an assault on the scientific temper only confirms that it is actually frightened of it. This is the reason why authoritarian regimes are often intolerant of those who champion the spirit of science, but encourage scientists who will launch satellites and develop nuclear weapons — even as they break coconuts, chant hymns and press "Enter" with their fingers laden with

auspicious stones. These 'techno-scientists' are what I call 'the DJs of the scientific community'. And they are often the establishment's yes-men and yes-women.

The founders of the Constitution were aware of this. Hence the words "scientific temper" and "the spirit of inquiry and reform" find place in the Constitution, along with "secular" (belatedly), "equality" and "rights". To dismantle secularism, dilute equality and pushback rights, it is imperative to destroy a scientific temperament.

The indoctrination against the scientific temper begins very early in our lives. It starts in our families and communities where young minds are aggressively discouraged from questioning authority and asking questions. An upper caste child for example may be forced to follow customs, which among others include practising and subscribing to the age-old caste system. The same methodology is used to impose fixed gender, sexual and religious identities. As a result, we are hardwired to be casteist, majoritarian and misogynist.

The final step in the 'Irrationality project' is to inject with regularity, preposterous, over-the-top claims about the nation's past. It effectively blurs vision of the present.The world is busy studying string theory, the god particle in a cyclotron, quantum mechanics. But we are busy expanding our chest size with claims of a fantastic yore.